।।श्री परमात्मने नमः।।

पढ़ के देखो

साधु वेष में एक पथिक

मैं हूँ पथिक सखे तुम मुझसे, समझ–बूझ कर प्रीति बढ़ाना।
फिर मत कहना आगे चलकर, मैंने तुम्हें नहीं पहचाना।।

प्रातः स्मरणीय नित्य वन्दनीय ब्रह्मलीन
श्री श्री 108 स्वामी पथिक जी महाराज

प्राकट्य	निर्वाण
15 जनवरी 1909 ई.	**10 जनवरी, 1991 ई.**

पढ़ के देखो

साधु वेष में एक पथिक

श्री पथिक अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति
28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ

हे सर्वाधार महान बसो चंचल मन में।
हे भक्तो के भगवान बसो चंचल मन में।।
हे विश्वम्भर परमेश एक परमाश्रय।
हे सबके जीवन प्रान बसो चंचल मन में।।
हे नित्य सत्य तुम ही इस शिव में शिव हो।
अनुपम सौन्दर्य निधान बसो चंचल मन में।।
हे हरि! दुःख हर लो ममता मोह मिटा दो।
जाग्रत हो आतम ज्ञान बसो चंचल मन में।।
हे प्रेम सिन्धु परमात्मन अंतर्यामी।
भूले न तुम्हारा ध्यान बसो चंचल मन में।।
हे प्रियतम प्रभु मैं पथिक तुम्हारा ही हूँ
मिट जाये सब अभिमान बसो चंचल मन में।।

अनुक्रम

1. सन्त मत

2. आकारों से मुक्त अहंज्ञान

सन्तमत

पढ़ते जाओ और बुद्धि दृष्टि से ज्ञान द्वारा देखते जाओ। किसी से सुन–सुन कर अपने को जो कुछ मानते हो वह तुम नहीं हो, क्योंकि जो कुछ तुम बने हो वह सदा नहीं रहेगा। सुन कर जिसे तुम अपना मानते हो, वह तुम्हारा नहीं है, क्योंकि वह कभी न कभी छूट जायेगा।

तुम देख सको तो अभी देखो। इस दुनिया में तुम या तुम्हारे साथी तभी दुःखी होते हैं, अशान्त होते हैं, भयातुर होते हैं, जब कुछ छूटता है, जब कुछ बिगड़ता है, जब कुछ नहीं मिलता है।

ज्ञान में देखने वाले सन्त सद्गुरु हमें दिखाते हैं कि जब तक तुम अपने में कुछ रखकर मेरा कहते हो और अपने को कहीं देहादिक वस्तुओं में रखकर 'मैं' कहते हो, तब तक तुम असत्–संगी हो, स्वतन्त्र नहीं हों

चेतन ज्ञान अर्थात अहं ज्ञान में जब कुछ नाम, रूप, आकार भर जाते हैं तब यही अहंकार कहा जाता है।

सन्त कहते हैं कि समझ में आ रहा हो तो अब ज्ञान को देहाकार, सम्बन्धाकार न बनाओ। आकार का चिन्तन करते ही ज्ञान तदाकार बन जाता है।

यह कितना सुन्दर सत्य स्मरण रखने योग्य है––

अहं के पीछे एक अनन्त सर्वदर्शी सत्य निरन्तर विद्यमान है––इसे ही आत्मा कहते हैं।

आत्मा माने 'हम' इसे ही अहमात्मा कहते हैं। हमारा स्वरूप ज्ञान ही है। यह ज्ञान ही नित्य सुखमय है।

अहं ज्ञान में जब बुद्धि स्थिर हो जाती है तब अन्य किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रयास से संसार के पदार्थ प्राप्त होते हैं जो सदा एक रूप में नहीं रहते। सत्य आत्मा को परमात्मा के लिए प्रयास की अपेक्षा नहीं है क्योंकि आत्मा परमात्मा अनायास ही नित्य प्राप्त है, बिना कुछ किए ही सुलभ है, इसी में निरन्तर अहं स्फुरित हो रहा है, प्रगट हो रहा है।

चेतना ही सर्वमय है। अहंकार ही सुख–दुःखमय है, क्योंकि मनमय है।

इस अहंकार को अज्ञान में मान लिया जाता है, इसे ज्ञान में जान लेना साधक का पुरुषार्थ है।

सत्य को स्वीकार करना सत्संग है।

अपने आपसे जो कुछ भिन्न है, उसे अपना मान लेना असत् संग है।

किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति अर्थात अपने से भिन्न अनात्मा में अपनी प्रसन्नता निर्भर करना पराधीनता है।

जो अपने साथ नहीं है, उसकी अपेक्षा न करना स्वाधीनता है। स्वाधीन हुए बिना नित्य प्राप्त सत्चेतन आत्मा का योग, बोध और प्रेम नहीं होता। योग, बोध, प्रेम की पूर्णता बिना शान्ति, मुक्ति, भक्ति सुलभ नहीं होती।

सन्त मतानुसार हम किसी की सहायता के बिना ही ममता रहित, संगासक्ति रहित, निरन्तर शान्त और भगवत् भक्त हो सकते हैं। ममता के लिए, लोभ के लिए, सुखोपभोग के लिए किसी सहारे की अपेक्षा होती है, लेकिन ममता, आसक्ति, लोभादि दोषों के त्याग के लिए किसी संग की, सहारे की अपेक्षा नहीं होती है।

बन्धन के लिए संग की आवश्यकता होती है, लेकिन मुक्त होने के लिए किसी संग की अपेक्षा नहीं होती है।

पकड़ने के लिए शक्ति की, साधन की अपेक्षा है परन्तु छोड़ने के लिए किसी प्रकार के श्रम की अपेक्षा नहीं है।

सन्त सद्गुरु सावधान करते हैं––

प्रतिपल आनन्दमय स्मरण करने का अभ्यास बना लो।

जैसा भी चिन्तन होता है,
चित्त उसी मय बन जाता है।
जिसकी चाह प्रबल होती है,
प्राणी उसको ही पाता है।।

विनाशी से प्रीति हटाकर अविनाशी में प्रीति स्थिर रखता है।

चैतन्य आश्रय से ही सब नाम रूप प्रगट होते हैं।

सभी नाम रूप, मायोपाधि माने जाते हैं।

जो जिसे चाहता है, उसी के अधीन हो जाता है। चाह ही पराधीन बनाती है।

आश्चर्य है कि जिसकी प्राप्ति के लिए कुछ करना ही नहीं है, जो कुछ करने से प्राप्त नहीं होता, कुछ किए बिना ही प्राप्य है, उसे आत्मा परमात्मा कहते हैं।

आत्मा ही जीवन है, नित्य रसमय, स्वाधीन, सुखस्वरूप है, परम प्रियतम है, यह तो अपने में ही है।

संसार में दुःख तो इसलिए आता है कि जीव पराधीन सुख के पीछे भागता न रहे, ठहर जाये और अपने आप में ही सुखानुभव करे, क्योंकि जीव सुख–स्वरूप ही है।

गीता में भगवान ने कहा है कि जो आत्मा में ही प्रीति स्थिर रखना चाहते हैं, जो अपने आप में, अपनी आत्मा में ही तृप्त है, आत्मा में ही निरन्तर सन्तुष्ट हैं, उसे फिर कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

किसी अन्य को सुखदाता मानने से पराधीनता और किसी अन्य को दुःखदाता मानने से दुःख का अन्त नहीं होता।

जो कभी छूटेगा उससे अभी से प्रीति हटा लो, अनासक्त होकर मिली हुई शक्तियों के द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों की सेवा कर लो। अपना कुछ भी न मानो, अपने लिए कुछ भी न चाहो।

किसी की जरूरत न रहे, किसी की याद न आए, प्रसन्नता बनी रहे – यही तो स्वाधीनता है।

संसार में अपना कुछ भी न मानने से ममता, आसक्ति नहीं रहती, परमात्मा को ही अपना सर्वस्व समझने से अनुरक्ति होती है। किसी वस्तु, व्यक्ति में सुख न मानने से मुक्ति एवं दुःख की निवृत्ति होती है।

सत्य आत्मा को, परमात्मा के योगानुभव के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। केवल अहंकार को समर्पित करने की आवश्यकता है।

यह भी देखते रहना है कि लोभी रहते दरिद्रता कभी नहीं मिटती।

संगासक्ति रहते विनाशी की सुरक्षा चाहते हुए भी पराधीनता नहीं मिटती। स्वाधीन होने पर ही सत्योपासना पूण्र होती है।

आसक्ति ममता रहते कामना नहीं मिटती। भय नहीं मिटता।

संसार से आशा रखते हुए भजन नहीं बनता।

ज्ञानी पुरुष पर जब हानि–लाभ, संयोग–वियोग, मान–अपमान आदि द्वन्दों का प्रभाव नहीं पड़ता, तभी नित्य सुलभ सत्–चेतन आनन्दस्वरूप आत्मा परमात्मा में परम विश्राम होता है।

सन्त कहते हैं कि संसार में जो कुछ अपना मानो सेवा के लिए मानो और परमात्मा को, भगवान को, अपना मानो और केवल प्रेम के लिए मानो। संसार से कुछ न चाहो और भगवान से कुछ न चाहो।

जो वस्तु मिली है, जो योग्यता सामर्थ्य प्राप्त है, उसके द्वारा उसका शुभ संकल्प पूरा करते रहो, जो तुम्हें अपना मानते हैं। अपना संकल्प छोड़ दो। चाह रहित होने का यही उपाय है।

यह भी समझ लो कि किसी तप से, योग्यता से, यज्ञादि शुभ कर्मों से विकरों की समाप्ति नहीं होती।

निर्मम ही निष्काम होता है। निष्काम ही संगासक्ति से मुक्त होता है। अब देखना है कि हम ममता क्यों नहीं छोड़ पाते? विवेक द्वारा यही उत्तर मिलता है कि सुखोपभोग से अतिराग हो गया है।

सुखोपभोग का त्याग तभी होता है, जब प्रीतिपूर्वक निष्काम सेवा ही अपना धर्म मालूम होता है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

यह सन्त सम्मति है कि जो साधक बन्धनों से, अशान्ति से, दुःखों से मुक्त होने के लिए सत्योपासना, आराधना की सिद्धि चाहते हैं, उन्हें स्पर्श–दोष, दृष्टि–दोष, क्रिया–दोष से तन को, मन को एवं इन्द्रियों को बचाते रहना चाहिए।

लाखों लोग जप, व्रत, यज्ञ, दान, पाठ, पूजा आदि करते हैं, परन्तु जब तक सुखोपभाग तथा संगासक्ति, ममता, लोभ, मोहादि दोषों में फँसे रहते हैं, तब तक दुःख–भोग अनन्त काल तक चलता रहता है।

परमानन्द परमात्मा निरन्तर जीवात्मा के साथ ही है परन्तु योग, बोध और प्रेम से साधक वंचित रहता है, क्योंकि असत् संग नहीं छूटता।

जब तक हम कुछ भी अपना मानते हैं, तब तक ममता के कारण चाह रहित नहीं हो पाते।

संसार में अपना कुछ न मानने से तथा ममता रहित होने से मन शुद्ध होता है।

अविनाशी चेतन–स्वरूप के अभिन्न होने से चित्त शुद्ध होता है।

किसी का कुछ बनने से अहंकार पुष्ट होता रहता है। अतः कुछ न बनने से अहंकार शुद्ध होता है।

जब संसार में अपना कुछ भी नहीं दीखता, तब अहं का आकार नहीं बनता। ज्ञान में आकार न रहने से अहं मुक्त हो जाता है।

सन्त मतानुसार जो संसार से कुछ नहीं चाहता वही ज्ञानी मुक्त होता है। भगवान से कुछ न चाहने पर प्रेमी भक्त होता है।

विनाशी पदार्थों से आसक्ति, ममता, कामना न रहने पर सूक्ष्म शरीर शुद्ध होता है।

कर्त्तापन का अभिमान छोड़ने पर कारण शरीर शुद्ध होता है।

भलाई का फल भोगने से धन, मान तथा इच्छाओं की पूर्ति का सुख भोगने से पराधीनता आती है।

जब तक कुछ भी चाह रहती है, तब तक स्वाधीनता सुलभ नहीं होती।

अचाह होने पर जगत् का प्रभाव नहीं पड़ता। किसी से कुछ चाहने वाला ही पराधीन होता है।

अपना कुछ न मानने से साधक चाहरहित हो जाता है।

सन्त ने बताया कि जो शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता प्राप्त है, उसे भोग से बचाकर जगत् की सेवा में सार्थक करो, अपनी खोज करो और प्रभु को अपना सर्वस्य मानकर सब में सत्चितस्वरूप से व्यापक जानकर प्रेम करो।

सन्त ने हमें समझाया कि तुम जो कुछ भी पढ़ते हो, तब लिखे हुए शब्दों पर ध्यान रहता है, लेकिन कागज पर ध्यान नहीं रहता। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस ग्रहण करते हुए अनुकूल के रागी और प्रतिकूल के द्वेषी बन जाते हो परन्तु जिस चेतन–शक्ति के आश्रय से विषयों का ग्रहण होता है उसे भूले रहते हो। यही असत् संग है।

भय, चिन्ता, अशान्ति, दुःख से मुक्त न हो पाना असत् संग का परिणाम है। पराधीनता असत् संग के कारण रहा करती है।

जब तक कोई किसी वस्तु को, व्यक्ति को, किसी अवस्था को, परिस्थिति को सुखद मानता है तब तक पराधीनता का अन्त नहीं होता।

पुरुष हो या नारी, जो जिसे चाहता है उसी की दासता में बद्ध रहता है।

जो किसी से कुछ चाहता नहीं है और दूसरों की, प्राप्त शक्ति योग्यता द्वारा आवश्यकता पूरी करता है, वह स्वाधीन हो जाता है।

जो अपने चेतन–स्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट है, तृप्त है, जिसकी प्रीति विनाशी नाम रूपों एवं पदार्थों में नहीं रह गई है उसकी स्वतन्त्रता अनन्त हो जाती है।

विनाशी नाम रूप को सदा रहने की आशा वहीं विद्वान करते हैं, जो मूर्ख हैं, जिनकी बुद्धि किसी प्रकार के मद से मूर्छित है।

चरस, गांजा, भांग, मदिरा का नशा तो कुछ देर के उपरान्त उतर जाता है, लेकिन बलमद, विद्यामद, पदाधिकार का मद, रूप का मद, कुल आदि का मद अहंकारी व्यक्ति में आजीवन बना ही रहता है।

सन्त समझाते हैं कि जिसे तुम यह कहते हो, जिसे तुम देख रहे हो, वह तुम नहीं हो, वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम उस दृश्य से भिन्न हो। अतः अपने को जानो। तुम सत् हो,

चेतन हो लेकिन तुमको भ्रमवश अपने सत्स्वरूप की विस्मृति हो रही है।

21 वर्ष से 28 वर्ष की आयु में किसी युवक या युवती को सौभाग्य से किसी विरक्त तत्त्वज्ञानी, आत्मावान सन्त महात्मा के द्वारा सत् चर्चा सुनने का अवसर मिल रहा हो और वह जीवन निर्माण का संकल्प करे अथवा दुःखद दोषों से मुक्त होना चाहे तो शक्ति सम्पन्न साहस का सदुपयोग सुगमता से हो सकता है।

प्रायः करोड़ों युवक–युवतियाँ सुखद संयोग के सुखोपभोग का ही संकल्प करते हैं, परन्तु जो नित्य है, निरन्तर है, कुछ किए बिना ही जो प्राप्त है, उस आनन्दस्वरूप परमात्मा के योगानुभूति का शिव संकल्प अर्थात् सत् संकल्प नहीं करते।

शरीर को ऊपर से स्वच्छ, सुन्दर दिखाने के लिए कौर उत्सुक नहीं है, लेकिन जीवन को सद्गुणों, सद्भावों एवं सद्ज्ञान और निष्काम प्रेम से सुन्दर सुसज्जित रखने के लिए कितने पुरुष, कितनी नारियाँ सावधान हैं?

असत् में सत् को पहिचानने वाले सन्त सावधान करते हैं कि यदि तुम विचारवान हो तो किसी के समान बलवान्, विद्वान, धनवान अथवा त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी, दानी बनने की या

होने की चेष्टा न कर वर्तमान में तुम जैसे रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, कामी, क्रोधी अथवा त्यागी, तपस्वी, दानी, ज्ञानी हो, उसे देखो और देखने वाले तुम कौन हो? तुम्हारा आकार, प्रकार, नाम, रूप विनाशी है या अविनाशी है, तुम सत्य हो या झूठ हो, यह देखो।

जब कभी क्रोध, लोभ, मोह कुछ करने का बलात् प्रेरित करे, तब उसे देखो।

मन के द्वारा दूसरों का काम, क्रोध, लोभ मोह दीखता है, अपने भीतर के विकार नहीं दीखते, उन्हें देखने के लिए बुद्धि में विवेक की जागृति चाहिए।

विवेक की जागृति सन्त संग से होती है परन्तु लाखों नर–नारी अपने का सन्त का भक्त, सत्संगी मानते हैं, प्रतिदिन सत्संग करते हैं, सत्कथा सुनते हैं, पढ़ते हैं, व्याख्यान देने लगते हैं और श्रोताओं के श्रद्धास्पद गुरु भी बन जाते हैं, परन्तु मन के भ्रम को, बुद्धि के मोह को नहीं देख पाते हैं और मोहवश, भ्रमवश ही विनाशी का दुःख, ह्रास का दुःख भोगते हैं।

तीर्थों में, मन्दिरों में मन की मान्यतानुसार दर्शन करते हैं, लेकिन अपने अहंकार को नहीं देख पाते।

सन्त ने हमें सावधान किया कि सत्संग के लिए कहाँ—कहाँ जाते हो, सुनते हो किन्तु सन्त संग से जब विवेक हो जाता है, जब बुद्धि में मोह और मन में भ्रम नहीं रहता, तब निरन्तर ही उसका बोध हो जाता है।

सत्संग का अर्थ है– ''सत् का संग'' जो अभी है, सदा से है, सदा रहता है, जो कहीं आता—जाता नहीं, उसका संग, सत्संग है।

इस सत्संग में किंचित भी श्रम नहीं है, परापेक्षा नहीं है। कार्यारम्भ के पूर्व और कार्य के अन्तउ में सुगमतापूर्वक जिस चेतन सत्ता के सहारे सब कुछ किया जाता है, उसकी अनुभूति ही सत्संग है।

सन्त कहते हैं कि उसे सत् आत्मा परमात्मा मानने की भूल न करना, जो वर्तमान में नहीं है।

जो निरन्तर है, उसे खोजना और जो प्रतीत होता है, परन्तु है नहीं, उसे प्रत्यक्ष 'है' मानते रहना मूढ़ता है।

श्रमरहित होने से स्वयं में शान्त, मौन होने से सर्वाश्रय सत्चेतन तत्व का अनुभव होता है।

ममता के रहते साधक निष्काम नहीं हो पाता और कामना के रहते श्रम–रहित, शान्त, स्वस्थ नहीं हो पाता।

ममता रहित होने के लिए, निष्काम होने के लिए किसी श्रम की अथवा सहारे की आवश्यकता नहीं है। यह भी याद रखना– यह दुःखद दोष, ममता, लोभ, कामना, आसक्ति कोई दूसरा नहीं मिटायेगा।

यह सन्त मत है कि जो वस्तु मिली है, उसके द्वारा मिले हुए व्यक्तियों की सेवा करो, अपने मन की पूर्ति न करते रहो।

कोई तप या पुण्य कर्म, यज्ञ, दान अथवा योग्यता के द्वारा साधक प्रायः विकाररहित नहीं हो पाता, क्योंकि कर्त्ता अहंकार भोक्ता बना रहता है। अपना कुछ भी नहीं है, सब कुछ परमात्मा का ही है और हम परमात्मा के ही हैं– ऐसा ज्ञान दृढ़ होने पर ही निर्विकार रहना सम्भव है।

ज्ञान के आदर से ही मोक्ष प्राप्त होता है। आसक्ति रहित होते ही प्रेम होता है। यह भी प्राकृतिक विधान है कि मानव को जीवन में जो मिला है, उसका सेवा में सदुपयोग करने से इच्छित सुखोपभोग प्राप्त होता है। सदुपयोग वही कर पाता है जो धर्मनिष्ठ विवेकी होता है।

सेवा तभी पूर्ण होती है जब सेवा सामग्री को अपनी न मानकर उसी की समझी जाए, जिसकी सेवा में सामग्री का उपयोग हो रहा है। सेवा सामग्री को अपनी मानकर जब सेवा की जाती है तब उसे पुण्य कर्म कहते हैं–वह सेवा नहीं है।

सन्त मतानुसार जीवन में जो कुछ भी तन, धन, जन आदि का संयोग है, उसे अपना मान लेना ही भ्रम है। जिसे हमने बनाया नहीं उस पर अधिकार समझना महाभ्रम है।

जो कुछ भी सांसारिक पदार्थ मिले हैं, उनका छूट जाना निश्चित है। फिर भी मोहवश, लोभवश जीव और अधिक प्राप्त होने की कामना करता है, वह महाभ्रम में हैं।

जो कुछ भी मिला है, वह अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है–ऐसा समझना विवेक है।

अप्राप्त वस्तु की कामना बनी रहना, जीव की दरिद्रता है। जो प्राप्त है, उससे सन्तुष्ट न होना दरिद्रता है।

परमात्मा प्रभु ही अपने सर्वस्य हैं–इस प्रकार की आत्मीयता से प्रेम की पूर्णतः होती है, परन्तु ममता रहते, सांसारिक कामनाओं के रहते, अहंता के रहते प्रभु के प्रति आत्मीयता पूर्ण नहीं होती।

साधन सिद्धि में सेवा की पूर्णतः, त्याग की पूर्णतः और प्रेम की पूर्णतः होनी चाहिए।

इच्छाओं के त्याग से सेवा पूर्ण होती है।

अपना कुछ भी न मानने से, संकल्परहित होने से त्याग पूर्ण होता है।

अविनाशी चेतन–स्वरूप आत्मा में ही प्रीति स्थिर रखने से प्रेम पूर्ण होता है। पूर्ण को शून्य होकर, शान्त होकर अनुभव करो।

सन्त कहते हैं कि बुद्धि शुद्ध है, तब तो आत्मा परमात्मा को ही अपना सर्वस्व मानो और विनाशी नामरूपों के साथ नित्य सत्य जान लो।

परमात्मा से और जगत से कुछ न चाहो, तभी पराधीनता मिटती है।

हजारों लोग महात्मा का वेष बना लेते हैं, लेकिन जब तक स्वाधीन नहीं होते, उदार नहीं होते, जब तक जगत से कुछ भी धन, मान, भोग चाहते हैं, तब तक महात्मा नहीं हो पाते।

जो सदा के लिए नहीं है, जो अपने में निरन्तर नहीं है, जिसका साथ छूट जाता है, वह अपना नहीं है।

कोई भले ही न माने, न जाने, फिर भी परमात्मा प्रभु निरन्तर अपने में ही अपना सर्वस्व है, कोई कभी परमात्मा के बिना नहीं है।

शरीर से अलग होकर देखो– यह शरीर तुम नहीं हो, जो कुछ भी शरीर के साथ है, जिसे भी तुम देखते हो वह तुमसे भिन्न है।

जिस समय तुम जो कुछ देखते हो, उसी समय गुरु–वाक्य स्मरण करो– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। सत्य ब्रह्म को पाना नहीं है, क्योंकि यह तो है ही।

मिथ्या को छोड़ना नहीं है, क्योंकि वह प्रतीत होता है, परन्तु है ही नहीं।

जीवन के सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। जो निरन्तर है, उसे स्मरण रखना सत्संग है। हम कहीं और अहं ज्ञान में ठहर जाओ, क्योंकि हम निरन्तर है, हमारा मानना माया में मोहित रहना है।

सुखासक्ति के रहते सेवा पूर्ण नहीं होती।

राग–द्वेष, अहंता, ममता, कलह, क्रोधादि विकारों के रहते त्याग पूर्ण नहीं होता। (प्रीति में जो भर जाता है, उससे ममता और ज्ञान में जो भर जाता है उसी मय अहंता)

भूमि, भवन, धन, जन आदि को छोड़कर साधु संन्यासी का वेष बना लेना त्याग नहीं है। जन्म के पश्चात् जो कुछ भी संसार की वस्तु मिली है, उसे अपनी न मानकर मोह, लोभ, अभिमान से रहित होना ही त्याग है।

सेवा की पूर्णतः दोषों के त्याग से है और त्याग की पूर्णतः निष्काम प्रेम से है, निष्काम प्रेम की पूर्णतः सच्चिदानन्द परमात्मा से है।

निष्काम प्रेम से ही प्रेमी को नित्य तृप्ति मिलती है।

किसी प्रकार की चाह ही प्रेम की पूर्णतः में बाधक बनती है।

चाह के साथ ही लोभ, मोह, भय, चिन्ता, अशान्ति आदि विकास रहा करते हैं।

जो कुछ भी नही चाहता, वही स्वाधीन प्रसन्नता एवं आनन्द से तृप्त रहता है।

प्रेम पाने से नहीं, प्रत्युक देने से विकसित होता है।

प्रेममयी दृष्टि से सभी ओर परम प्रियतम का ही सौन्दय्र माधुर्य दीखने लगता है।

साधु वेष में पथिक का संक्षिप्त परिचय

आपके शरीर का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सम्वत 1935 में हुआ था। आपके पिता जिला फतेपुर ग्राम–बकेवर के रहने वाले थे। कालान्तर में वह जाकर ग्राम–साढ़ जिला कानपुर में रहने लगे। आपकी बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत हुई। वहीं पर कुछ शिक्षा प्राप्त की। आपको बचपन से देवी–देवताओं पर पूर्णतः विश्वास था। आपके माता–पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आप ग्राम के बाहर भूँधरा खोदकर तप करने लगे। इस अवस्था में भी अनेक लोग आपके दर्शन करने आया करते थे।

बाल्याकाल से ही किसी से उपदेश सुने बिना भगवान के नाम जप स्मरण में विश्वास था। आरम्भ से ही एक परमहंस अवधूत सन्त में श्रद्धा हो गयी जो नग्न ही घूमते थे। कोई वस्त्र न रखते थे। स्नान के पश्चात खाक लगा के जल सुखाते थे। उसे विभूति कहते थे।

गुरु महाराज ने आपका नाम ''पलकनिधि'' रखा था। वैसे आस–पास के गाँव के लोग आपको ''ब्रह्मचारी'' कहा करते थे। सीतापुर में आपने बहुत समय तक तप किया। नदी किनारे पर्ण कुटी बनाकर आपने तप किया। उस समय आप टाट का ही अचला, लंगोटी, बिछाने ओढ़ने के लिये भी आप टाट का ही प्रयोग करते थे। चना, गेहूँ को फुलाकर खाते थे।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर सब कुछ छोड़कर साधु वेश में विचरण करते हुए अनेकों कविताएं लिखीं। एकान्त सेवी होने के कारण पद्य के साथ–साथ गद्य लिखना आरम्भ हुआ। लगभग पैंसठ पुस्तकें छपी। मान प्रतिष्ठा पूजा भेंट से सदा विरक्त रहकर विचरण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का समाजव्यापी प्रचार बढ़ता गया, विचारों की प्रधानता से विचारक समुदाय की वृद्धि होती गयी। 'साधु वेष में एक पथिक' नाम से कल्याण में लेख छपते रहे। आपने अठसराय में नागा निरंकारी विद्यालय बनवाया और जिला कानपुर ग्राम–साढ़ में भी आपने विद्यालय बनवाया है।

ज्येष्ठ–शुक्ल पंचमी तदनुसार 10 जून 1997 को परमार्थ आश्रम हरिद्वार में आपका शरीर पूर्ण हुआ और वहीं पर भव्य सन्त पथिक समाधि मन्दिर बना है।